तेरापंथ-दर्शन

□ मुनि श्री उदितकुमार
(युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के शिष्य)

विश्व के दर्शनों में जैन दर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण दर्शन है। जैन दर्शन ही तेरापंथ दर्शन है। जैन दर्शन की व्याख्या ही तेरापंथ दर्शन की व्याख्या है।

तेरापंथ की स्थापना तत्कालीन साधु संस्थानों की शिथिलता को देखकर आचार्य भिक्षु ने की। आचार्य भिक्षु ने संवत् १८०८ में आचार्य रघुनाथजी के पास स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षा ली। कई वर्षों तक शास्त्रों का गहन अध्ययन किया, गहन अध्ययन कर लेने के पश्चात् उन्हें लगा कि वर्तमान का साधु-समाज भगवान महावीर की वाणी के अनुसार नहीं चल रहा है।

आचार्य भिक्षु ने शास्त्रों के आधार पर तत्कालीन साधु समाज की साधना से ३०६ बोलों का फर्क निकाला। उन्होंने संवत् १८१७ में बगड़ी में शुद्ध साधुत्व पालन के लिए अभिनिष्क्रमण किया। आचार्य रघुनाथजी ने समझाने की निष्फल चेष्टा की। उन्होंने कहा–तुम्हें समय देखकर चलना चाहिये। इस समय इतनी कठोर चर्या की बात किसी प्रकार से निभ नहीं सकती, अतः निरर्थक हठ छोड़कर मेरे साथ संघ में आ जाओ।

स्वामीजी ने कहा—समय के बहाने से शिथिलाचार को प्रश्रय देना उचित नहीं हो सकता। इस समय भी साधु-चर्या के कठोर नियम उसी प्रकार निभाये जा सकते हैं जिस प्रकार कि पहले निभाये जाते थे। इसी विश्वास के आधार पर हम लोग जिन-आज्ञा के अनुसार शुद्ध संयम पालना चाहते हैं। आप अगर ऐसे चलें तो आप गुरु और मैं चेला हूँ और जीवन भर रहूँगा। अगर शिथिलाचार में रहना है तो हमारा रास्ता अलग है ही। आचार्य भिक्षु के शब्दों में ओज था, अतुल आत्मबल था।

आचार्य भिक्षु की विचार-क्रान्ति

आचार्य भिक्षु की विचार क्रान्ति के मूलभूत सूत्र हैं—

१. **साध्य और साधन**—आचार्य भिक्षु ने कहा–साध्य और साधन दोनों शुद्ध होने चाहिये। हमारा साध्य है मोक्ष और उसका साधन है—संवर और निर्जरा। इसके द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। साध्य हमारा शुद्ध हो और साधन अगर हिंसा, परिग्रह आदि अशुद्ध हों तो तो साध्य की प्राप्ति नहीं होगी, पाप कभी मोक्ष का साधन नहीं बन सकता। पाप भी यदि मुक्ति का साधन बन जावे तो पाप और मुक्ति में कोई भेद नहीं रहेगा। अतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सिवाय कोई भी मुक्ति का उपाय नहीं है। इसलिए ये चार ही धर्म हैं। शेष सब बन्धन के हेतु हैं। वे मोक्ष के हेतु नहीं बन सकते।

२. **करण योग**—आचार्य भिक्षु ने कहा—जो कार्य करना साध्य के अनुकूल नहीं है, उसे करवाना व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले का अनुमोदन करना भी साध्य के अनुकूल नहीं हो सकता ; करना, करवाना व अनुमोदन करना तीनों अभिन्न हैं।

(क) जिस कार्य के करने में धर्म होता है तो उसके करवाने व अनुमोदन में भी धर्म है। ऐसा नहीं हो सकता कि करने में धर्म व करवाने व अनुमोदन करने में धर्म नहीं।

(ख) जिस कार्य के करने में धर्म नहीं उसके करवाने व अनुमोदन में भी धर्म नहीं होता है। अहिंसा का पालन करना धर्म है, करवाना धर्म है और उसके पालन का अनुमोदन करना भी धर्म है।

कुछ लोग कहते हैं—मरते हुए प्राणियों की रक्षा करना धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म का सम्बन्ध जीवन या मृत्यु से नहीं है। उनका सम्बन्ध संयम से है, त्याग से है। आत्मा के ऊँचा उठने से है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—किसी हिंसक को उपदेश देकर उसे हिंसा से बचाना धर्म है। दबाव या प्रलोभन के बल से किसी को हिंसा से रोका तो वह आत्मधर्म नहीं है। चींटी चल रही है, हमने अपने पैर को हिंसा से बचने के लिये ऊँचा उठाया, हम हिंसा से बच गये, इधर चींटी भी बच गई। धर्म हम हिंसा से बचे उसी में है। चींटी बची वह धर्म है तो दूसरे क्षण चींटी को चिड़िया ने मार दिया तो क्या हमारी दया मर गई? हमारी दया हमारी वृत्तियों के साथ जुड़ी हुई है, चींटी के शरीर के साथ नहीं। यह आनुसंगिक परिणति है, सहज रूप में होती है।

३. आचार्य भिक्षु ने भगवान् की आज्ञा के मानदण्ड से क्रियामात्र को मापा। भगवान् की आज्ञा जिस कार्य में है, मात्र उसी कार्य में धर्म है; क्योंकि जिस कार्य की भगवान् की आज्ञा है, मुनि भी उस कार्य को कर सकता है और करा भी सकता है। उस कार्य का अनुमोदन भी कर सकता है। भगवान् की आज्ञा हमेशा ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप की वृद्धि के लिये ही होती है। शरीर-रक्षा और परिग्रह वृद्धि के लिये कभी भगवान् की आज्ञा नहीं होती। क्योंकि वह जिस कार्य का अनुमोदन नहीं कर सकता तो उसे कर भी नहीं सकता, करवा भी नहीं सकता। संयमी असंयम व उसके साधनों का अनुमोदन नहीं कर सकता, इसलिए असंयम धर्म नहीं है। मुनि संयम व उसके साधनों का अनुमोदन कर सकता है, इसलिए संयम ही धर्म है।

दया की विशेष मीमांसा करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—

जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारणवाला ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते दया गुण खाण ॥

जीव अपने आयुष्य-बल से जीता है, वह अहिंसा या दया नहीं है। कोई जीव स्वयं का आयुष्य क्षीण होने से मरता है, वह हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और न मारने की प्रवृत्ति का नाम दया है, अहिंसा है।

उन्होंने दृष्टान्त देते हुए कहा—किसी ने गाजर खाने का त्याग लिया, अब गाजर मालन के टोकरे में बच गई, वह धर्म है या त्याग किया वह धर्म है? अगर गाजर बची वही धर्म है? तब तो किसी ने खरीदकर गाजर को खा लिया, क्या दया खत्म हो गई? दया का सम्बन्ध गाजर के साथ नहीं आत्मा के साथ है। जो क्रिया किसी जीव को मात्र जिलाने के लिये होती है उसमें मोह और हिंसा की सम्भावना बनी ही रहती है। और जो क्रिया अपनी जीवन-मुक्ति के लिए होती है वह संयम में परिणत हो जाती है।

५. आचार्य भिक्षु ने वैचारिक क्रान्ति के अन्तर्गत और भी कई सूत्र दिये जिनमें प्रमुख ये हैं—

(१) भगवान की आज्ञा में धर्म है, आज्ञा के बाहर नहीं।

(२) धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।

(३) धर्म हृदय परिवर्तन में है दबाव में नहीं, प्रलोभन में नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) जीवों को मारकर जीव की रक्षा करना धर्म नहीं है।
(५) असंयमी के जीने की इच्छा करना राग है।
(६) उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।
(७) उसके तिरने की इच्छा करना धर्म है।

आचार्य भिक्षु की आचार-क्रान्ति

आचार्य भिक्षु ने विचार-क्रान्ति के साथ आचार-क्रान्ति भी की। उन्होंने कहा—जो बात मुझे वर्तमान में साधना की दृष्टि से ठीक लग रही है, वही मैं करूँगा। जो बात भगवान् महावीर से चली आ रही है उन्होंने समय देखकर उनमें परिवर्तन भी किया। उनमें से प्रमुख धाराएँ ये हैं—

१. शिष्य परम्परा

आचार्य भिक्षु शिष्य बनाने की प्रक्रिया को बहुत महत्त्व देते थे। वे हर किसी को दीक्षित बनाने के पक्ष में नहीं थे। अयोग्य दीक्षा पर उन्होंने कड़ा प्रहार किया।

उस समय अयोग्य शिष्यों की बाढ़ आ रही थी, उसका प्रमुख कारण शिष्य परम्परा। अपने-अपने शिष्य बढ़ाने की होड़ में योग्य और अयोग्य की परीक्षा गौण हो जाती थी। येन-केन-प्रकारेण ज्यादा शिष्य हो जायें तो आचार्य बनने का अवसर मिल जाये, या अलग टोला भी बनाया जा सके।

आचार्य भिक्षु ने इसकी जड़ को ही पकड़ लिया। उन्होंने उस पर दोनों ओर से नियन्त्रण किया। उन्होंने संवत् १८३२ के मर्यादापत्र (लिखत) में लिखा कि मेरे बाद आचार्य भारमलजी होंगे। तेरापन्थ में एक ही आचार्य होगा, दो नहीं हो सकेंगे। दूसरी ओर उन्होंने उसी मर्यादा पत्र में एक मर्यादा यह लिखी कि जो शिष्य बनाये वह भारमलजी के नाम से बनाया जाय। इन दोनों मर्यादाओं को बनाकर आचार्य भिक्षु अयोग्य दीक्षा की बाढ़ रोकने में सफल हुए।

२. संघ व्यवस्था

भगवान् महावीर के समय में नौ गण व ११ गणधर थे। उनकी समाचारी एक थी। उनका गण विभाजन व्यवस्था की दृष्टि से था। प्राचीन समय में साधु संघ में सात पद थे—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) गणी, (४) गणावच्छेदक, (५) स्थविर, (६) प्रवर्तक, (७) प्रवर्तिनी। इनके द्वारा हजारों-हजारों साधु-साध्वियों का कार्य संचालन होता था। इनमे आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उपाध्याय का काम है संघ में शिक्षा का प्रसार करना। एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—आपके उपाध्याय कौन हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई नहीं। उसने कहा—तो उपाध्याय के बिना संघ पूर्ण कैसे होगा। उन्होंने उत्तर दिया—संघ पूर्ण है। सातों पदों का काम मैं अकेला देख रहा हूँ।

आचार्य भिक्षु ने आज के युग के सन्दर्भ में इस महावीरकालीन परम्परा को समाप्त किया। उन्हें ऐसा लगा कि यह पद परम्परा रहेगी तो संघ में एकता नहीं रहेगी। इसी कारण उन्होंने लिखा—"वर्तमान आचार्य अपने गुरु-भाई अथवा अपने शिष्य को उत्तराधिकारी चुने, उसे सब साधु-साध्वियाँ सहर्ष स्वीकार करें और सभी एक ही आचार्य की आज्ञा में रहे।

इस मर्यादा का तेरापन्थ के आत्मार्थी साधु-साध्वियों ने बहुत ही निष्ठा से पालन किया है। आचार्य श्री तुलसी नवमें आचार्य हैं। इन्हें पूर्ववर्ती आचार्य श्री कालुगणी ने २२ वर्ष की अवस्था में अपना उत्तराधिकारी चुना। उस समय पाँच सौ के लगभग साधु-साध्वियाँ थीं। उनमें वय:प्राप्त भी थे, विद्वान् भी थे, सभी प्रकार के थे फिर भी पूर्ववर्ती आचार्य को जितना सम्मान दिया गया, वही सम्मान आचार्य श्री तुलसी को संघ ने दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भिक्षु ने आचार-क्रान्ति के अन्तर्गत और भी अनेकों सूत्र दिये। जिससे तेरापन्थ आज भी एक आचार, एक विचार, एक आचार्य पद्धति पर दृढ़ता से आगे बढ़ रहा है।

आचार्य भिक्षु अपने लक्ष्य के धनी थे, चारित्रनिष्ठ थे। उन्होंने चारित्र-शुद्धि को सर्वाधिक महत्त्व दिया। आचार्य भिक्षु का संगठन केवल शक्ति प्राप्ति के लिए नहीं था। यह आचार-शुद्धि के लिए था। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में आचार की भित्ति पर अवस्थित संगठन का महत्त्व है। उससे विहीन संगठन का कोई धार्मिक मूल्य नहीं है।

□

ये चास्रवास्तेऽपि परिस्रवाः स्युः
परिस्रवा आस्रवतां श्रयन्ति।
गौणानि बाह्यानि निबन्धनानि,
भावानुरूपौ किल बन्धमोक्षौ ॥

—वर्द्धमान शिक्षा सप्तशती
(श्री चन्दनमुनि रचित)

—जो आस्रव हैं—कर्मबन्धन के हेतु हैं वे परिस्रव—कर्मों को काटन के हेतु बन जाते हैं। वैसे ही जो परिस्रव हैं, वे आस्रव बन जाते हैं। बाहरी बन्धन गौण हैं। वस्तुतः भावों के अनुसार ही बन्ध तथा मोक्ष होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org